

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ४४

अंक - अप्रैल २०१९ - मार्च २०२०

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिये

पता - Editor : Tithayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Phone : (033) 2268-2655, 2272-9028,

Email : jainbhawan@rediffmail.com

Website : www.jainbhawan.in

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --

Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from
P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655
and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street
Kolkata - 700 006 Phone : 2241-1006

संपादन

डॉ. लता बोथरा

पी-एच.डी., डी.लिट्



अनुक्रमणिका

क्र. सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	पूर्व में जैन धर्म	डॉ. लता बोथरा	५
२.	आदिकाल का साहित्य और गद्य भाषा	कामता प्रसाद	१९
३.	सोने के कंगन	श्री केवल मुनि	३७

ISSN 2277 - 7865

Composed by:

Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

पूर्व में जैन धर्म

डॉ. लता बोथरा

आज जिस विषय पर मैं अपना वक्तव्य रखने जा रही हूँ, वह है पूर्व में जैन धर्म। पश्चिमी देशों के संदर्भ में यदि हम देखें तो पूर्वी क्षेत्र का द्वार भारत से प्रारम्भ होता है जिसमें अफगानिस्तान, पाकिस्तान, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, वर्मा, इण्डोनेशिया, मलेशिया, वियतनाम आदि देश पूर्वी क्षेत्र में आते हैं और यदि भारत के संदर्भ में देखें तो भारत का पूर्वी प्रान्त शुरु होता है पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर वर्मा की सीमा तक। यद्यपि इतनी जगहों पर जैन धर्म के प्रभाव का वर्णन करना इस समय सीमा में असंभव हैं अतः मैं इन क्षेत्रों के परिप्रेक्ष्य में कुछ विशेष गवेषणात्मक तथ्यों को आपके समक्ष रख रही हूँ।

भारतवर्ष की अतिपावन भूमि मगध बंग और कलिंग रही है। श्रमण संस्कृति की पताका यहीं से विश्व में फैली हैं।

बंगाल : बंगभूमि प्राचीन काल से ही जैन धर्म का प्रमुख गढ़ रही है जिसके स्पष्ट निर्देश हमें यहीं भू-गर्भ से निकल रही सैंकड़ों प्राचीन जिन प्रतिमाओं और प्राचीन मंदिरों के खण्डरों से मिलते हैं। अधिकांश प्रतिमाएं गाँव के चबूतरों में, पेड़ों के नीचे सर्वत्र उपेक्षित बिखरी पड़ी है। कहीं-कहीं इन्हें अन्य देव रूपों में पूजा जाता है तथा अनेक स्थानों में इनके सम्मुख पशु बलि भी दी जाती हैं। बंगाल के कई जिलों में जाकर जब मैंने इनको देखा और इनके

विषय में जानकारी हासिल की तो यह जानकर आश्चर्य हुआ कि ये ऐतिहासिक अवशेष जैन धर्म संबंधी अनभिज्ञता के कारण जैनेतर रूप में प्रचारित किये जा रहे हैं। यह क्षेत्र 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा अन्तिम 24वें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की कर्म भूमि रहा है जिसके प्रचुर प्रमाण प्राचीन आगम साहित्य में उपलब्ध है। वर्द्धमान, वीरभूमि और सिंह भूमि आदि नाम भी इसकी पुष्टि करते हैं। अजय नदी के तटों पर ब्राह्मणकालीन भग्नावेश भगवान महावीर के पूर्व भी यहाँ श्रमण संस्कृति के प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। वासुदेव हिंडी में पौण्ड्र राज्य का वर्णन आता है। ये पौण्ड्र राज्य वर्द्धमान से धनवाद तक का क्षेत्र था। यहाँ के राजा पाण्डु वसुदेव के पुत्र और श्रीकृष्ण के सौतेले भाई थे। पौंड्र राज्य की राजमाता एवं अन्य लोगों के शिखर जी की यात्रा करने का भी उल्लेख हमें वासुदेव हिंडी में मिलता है। श्यामाचरण मुखोपाध्याय ने लिखा है जैन सूत्र ग्रन्थों से ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि महावीर से पहले भी जैन मुनि धर्मप्रचार के उद्देश्य को लेकर या फिर किसी और कारण से इन अंचलों में आते थे।

डॉ. तपन चक्रवर्ती ने अपने शोध ग्रन्थ “**बंगाल में जैन धर्म**” में स्पष्ट लिखा है कि 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रभाव बंगाल में बहुत प्रबल था। पार्श्वनाथ की शासन देवी पद्मावती की भी यहाँ बहुत मानता है जिसके कारण गंगा की एक धारा का नाम पद्मा पड़ा। पद्मावती देवी को इस क्षेत्र में मनसा देवी के नाम से पूजा जाता है। 600 ई. पू. भगवान महावीर ने इस क्षेत्र में ज्ञान की ज्योति जलाकर अज्ञान के अंधकार को दूरकर मानवता को पल्लवित किया था। मानव के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का उन्होंने जो

प्रयास किया था उसका प्रभाव इस क्षेत्र की भाषा, आचार व्यवहार में आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। प्रो. चितरंजन पाल ने अपने शोध लेख में यह स्पष्ट किया है कि अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण स्थल बंग देश में हुआ था। (इस बात का स्पष्ट निर्देश पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र से भी मिलता है।) सोमपुर बौद्ध बिहार की खुदाई से यह भी पता चला कि उससे नीचे प्राचीन काल में यहाँ पर जैन विहार था। भगवान महावीर के चौथे पट्टधर गोविन्दाचार्य कोटपुर (देवीकोट) में आये थे। भद्रबाहु स्वामी इसी क्षेत्र के थे और उनके शिष्य गोदास के शिष्यों की चार शाखाएँ ताम्रलिप्तियाँ, कोटिवर्षिया, पुण्ड्रवर्धनिया और दासीखरवर्तिया सभी बंगाल से संबंधित हैं। बारीबटेश्वर से प्राप्त मगध सम्राट आज्ञात शत्रु के सिक्कों से पता चलता है कि 600 ई. पू. यह क्षेत्र जैन धर्म से प्रभावित था जो जैन शास्त्रों में वर्णित बंग जनपद था। मानभूम, वीरभूम और वर्द्धमान आदि जिलों में लगभग अढ़ाई हजार से तीन हजार वर्ष पुराने जैन अवशेष मिले हैं। पूर्व बंगाल (बंगलादेश) में भी नरसिंहडीही, कोमिल्ला, महास्थानगढ़, मैनामती आदि जगहों पर प्राचीन जैन अवशेष खुदाई में मिले हैं। बंगलादेश से प्राप्त 1800 वर्ष प्राचीन 19वें तीर्थंकर मल्लीनाथ की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसके अलावा प्रागैतिहासिक काल की ऋषभ देव की मूर्ति बांगला देश से प्राप्त होना इस बात का द्योतक है कि बंग देश में जैन धर्म बहुत ही प्राचीन काल से विद्यमान था। बंगला भाषा भी प्राकृत अर्द्धमागधी से विकसित हुई है, प्राकृत भाषा में साहित्य का समृद्ध भण्डार था जिसमें बंगाल के प्रमुख समृद्धशाली क्षेत्रों पुण्ड्रवर्द्धन, ताम्रलिप्त, समतट, कोटिशिला, कोमिला, पौण्ड्र आदि का वर्णन जगह-जगह मिलता है। प्रसिद्ध आचार्य बप्पभट्टसूरि जी

को धर्मपाल राजा ने वादी कुंजर केशरी की उपाधि से विभूषित किया था। सातवीं शताब्दी में हेनसांग ने अपनी भारत यात्रा के उल्लेख में इस क्षेत्र में निर्ग्रन्थों का प्रभाव सबसे ज्यादा बताया है।

मैगस्थनीज के वर्णनों में भी बंग प्रदेश का एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में वर्णन मिलता है। यहाँ पर कई बड़े जनपद थे जिनमें गंगरादयी जनपद महत्वपूर्ण है। यहाँ पर खुदाई में अनेक जैन अवशेष तथा तीर्थंकर मूर्ति मिली हैं। ये जनपद कलकत्ता से 38 कि. मी. दक्षिण में चन्द्रकेतुगढ़ में स्थित था। यहाँ खुदाई में प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि ये मौर्य कालीन जनपद था। श्री प्रबोध चंद सेन, डॉ. हरिसत्य भट्टाचार्य, डॉ. त्रिपुरा बसु, श्री गोपीचन्द्र बसु आदि अनेक बंगाली विद्वानों का कहना है कि बंगाल का आदि धर्म जैन था। शान्तिनिकेतन के आचार्य क्षितिमोहन सेन जो अमार्त्य सेन के पितामह थे उन्होंने लिखा है कि—

**आमादेर प्राचीनतम धर्मर निदर्शन पाउया जाय,
ताहा सवई जैन ताहार परे बौद्धयुग,
ताहार परे वैदिक धर्मर मतवाद एसे छिल।**

अर्थात् हमारे प्राचीन धर्म के जो निदर्शन मिलते हैं वे सब जैन हैं उसके बाद बौद्ध युग और बौद्ध युग के बाद वैदिक युग आया।

यहाँ पर प्राचीन समय से एक जाति निवास करती है जिसे सराक कहते हैं जो श्रावक का अपभ्रंश है इनकी प्राचीनता का प्रमाण इनके गोत्र है जो तीर्थंकरों ऋषभदेव, धर्मदेव और अनन्तदेव आदि के नाम पर है। हम सब लोगों के गोत्र तीर्थंकरों के नाम पर

नहीं है लेकिन इस सराक जाति के लोगों के गोत्र तीर्थकरों के नाम पर होना इनकी प्राचीनता का स्वतः प्रमाण देता है सराक जाति के आचार्य सुयश मुनि जी का गोत्र ऋषभदेव है। ये लोग शुद्ध शाकाहारी एवं चरित्रवान हैं। पाषाणकला, शिल्पकला, वस्त्रशिल्प एवं खनन आदि कार्य करने में अत्यन्त निपुण इस जाति की बनायी मूर्तियाँ एवं मंदिर सर्वत्र देखने को मिलते हैं। इस क्षेत्र की समृद्धि का प्रमुख कारण सराक जैन संस्कृति का प्रभाव रहा था। कालक्रम में राजनैतिक अस्थिरता, धार्मिक विद्वेष की भावना के कारण यहाँ का सराक जैन सम्प्रदाय, जो यहीं की उच्चकोटि की संस्कृति का प्रतीक था, छिन्न-भिन्न हो गया।

उड़ीसा : उड़ीसा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण खोज जो चीन के इतिहास और पुराणों से मिली है वह बहुत महत्वपूर्ण है। उड़ीसा के सम्बलपुर कभी अपने हीरे की खान के लिये विश्व विख्यात था। उड़ीसा के इतिहासकार नीलकण्ठ शास्त्री के उल्लेख एवं चीन के साहित्य में स्पष्ट वर्णित है कि उड़ीसा के संबलपुर में सबसे प्रथम जगन्नाथ (ऋषभनाथ) की प्रतिमा को गौतम ने प्रतिष्ठित किया था। और वहाँ जगन्नाथ चरित्र की रचना की थी। यही वह प्रतिमा थी जिसे नन्दराजा उड़ीसा से मगध ले गये थे। जिसे पुनः उड़ीसा के सम्राट खारवेल ने ई. पू. दूसरी शताब्दी में मगध को विजितकर वापिस कलिंग में प्रतिष्ठित किया था। छठी सातवीं शताब्दी में जब यहाँ पर जैनियों पर अत्याचार होने लगे तब यहाँ से लोगों का पलायन शुरू हुआ और वे नेपाल, तिब्बत, दक्षिणी चीन, में जाकर बसे और वहाँ पर अष्टापद क्षेत्र का नाम सम्भल देकर उड़ीसा के सम्भलपुर की स्मृति को जीवन्त रखा। यही सम्भल पश्चिम जगत में आज सभाला के नाम से प्रसिद्ध है

जिसका अर्थ है विश्राम और शांति की जगह। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऋषभदेव की प्रतिमा को जिन गौतम ने प्रतिष्ठित किया था वह और कोई नहीं भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी ही थे। और जब उन्होंने अष्टापद की यात्रा की तो वहाँपर भी उन्होंने कण्डरिक पुण्डरिक चरित्र की रचना की थी।

जिस समय अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया उस समय कलिंग के राजा क्षेमराज थे जो भगवान महावीर के समय वैशाली प्रमुख भगवान महावीर के परम उपासक चेटक वंश के थे यह वर्णन हमें हिमवन्त पट्टावली में मिलता है। उन्हीं के वंशज उड़ीसा के सम्राट महामेघवाहन खारवेल ने सिर्फ कलिंग जिन को मगध से लाकर प्रतिष्ठित ही नहीं किया बल्कि उदयगिरि और खण्डगिरि में मंदिर और गुफाओं का निर्माण कराया। हाथीगुम्फा के शिलालेख आज भी उनके नाम की कीर्ति को अमर कर रहे हैं। इन शिलालेखों से पता चलता है कि उन्होंने दो बार मगध के अधिपति शुंग वंश के सम्राट पुष्यामित्र अपरनाम वृहस्पति मित्र को पराजित किया था। उनके सम्राज्य की सीमा कश्मीर से लेकर श्रीलंका तक थी। खारवेल की उपाधि भी इस बात का द्योतक है कि समुद्र के अनेक द्वीपों पर उनका शासन था। किसी भी प्रकार की जीव हत्या का निषेध एवं विजित राज्यों में अहिंसा का प्रचार उनको सिर्फ एक महान सम्राट ही नहीं वरन् प्रजापालक, जीवदया प्रेमी तथा जिनधर्मी होने को परिलक्षित करते हैं। इस महान सम्राट का यदि सही मूल्यांकन किया जाय तो यह अशोका से भी महान सम्राट था जिन्होंने तीर्थकरों की वाणी को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया और पूरे भारत में उत्तरापथ काश्मीर से दक्षिणापथ श्रीलंका तक जीव हत्या निषेध कर दी। ऐसा सम्राट जो देवी के आगे बलि देने वाले ब्राह्मण पुत्र की रक्षा के लिए

स्वयं अपनी बलि देने के लिए प्रस्तुत हो जाये उसके कार्यों की अनुमोदना शब्दों में नहीं की जा सकती।

लगभग बीस वर्ष पूर्व उड़ीसा के एक सरकारी पदाधिकारी जिसका नाम चितरंजन सेन था जैन भवन कलकत्ता में आये थे उन्होंने उड़ीसा के जगन्नाथ मंदिर के विषय में बताया कि यह जिनमंदिर है यहाँ जो भोग लगता है उसमें जमीकंद का प्रयोग नहीं होता और मुंह पर कपड़ा बांधकर भोग तैयार करते हैं। उन्होंने बताया कि उनके घर में एक जैन तीर्थंकर मूर्ति है जिसकी पूजा उनकी माँ देवी मानकर करती है।

विश्व के हर धर्म और संस्कृति में एक सामान्य मान्यता है कि मानव संस्कृति का उदय पूर्व से हुआ। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्मस्थल और निर्वाणस्थल भी पूर्वी क्षेत्र में था। सिर्फ जैन साहित्य में ऋषभदेव से ही संस्कृति का प्रारम्भ हुआ बल्कि पुराणों में भी उन्हें धर्म का आदिमुख बताया गया है। वर्तमान शोधों से ये स्पष्ट है कि उनका निर्वाण स्थल अष्टापद पूर्वी क्षेत्र में ही है।

तिब्बत, चीन, नेपाल एवं भारत के उत्तर पूर्वी इलाकों में नाग जाति का वर्चस्व रहा है। अष्टापद क्षेत्र में सगर राजा और भागीरथ के प्रकरण में नाग वंशियों का उल्लेख मिलता है वहाँ पर खाई बनाने और उसमें पानी भर जाने से नाग वंशियों को वहाँ से पलायन करना पड़ा तथा भारत के पूर्वी अंचल, चीन और तिब्बत में जाकर बसे। वैशाली गणतंत्र जिन नौ जातियों लिच्छवी, मल, वज्जी आदि से मिलकर बना था। ये जातियाँ नाग जाति की ही उपजाति थी। भगवान महावीर को आगम साहित्य में णायपुत्र कहा गया है। णाय का एक अर्थ नाग भी होता है।

नेपाल : भगवान महावीर की माँ त्रिशला लिच्छवी वंश की थी। मनु स्मृति में भी इन्हें ब्राह्मण क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्राह्मण शब्द जैनों के लिये प्रयोग होता था। आजात शत्रु ने जब वैशाली भंग किया तब ये लिच्छवी जाति के लोगों में कुछ नेपाल एवं तिब्बत में जाकर बस गये। तिब्बत में पहली तथा दूसरी शताब्दी में लिच्छवी राजाओं के शासन का वर्णन मिलता है। चौथी शताब्दी में नेपाल की राजकुमारी जो लिच्छवी वंश की थी। उनका विवाह सम्राट समुद्रगुप्त के पिता चंद्रगुप्त प्रथम से हुआ था। नेपाल तीर्थंकरों की जन्मस्थली रही है। नेपाल में मल्ली गाँव आज भी मिलता है। मल्ली गाँव में खुदाई से निकली मूर्ति जो राजसी वेश में है निश्चित रूप से राजकुमारी मल्ली की मूर्ति है जो बाद में 19वें तीर्थंकर मल्लीनाथ स्वामी बने। नेपाल का नाम 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ के नाम पर पड़ा है। पशुपति पुराण, नेपाल महात्म्य में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शिल्वा लेबी ने भी अपने ग्रन्थ में इसका जिक्र किया है। *The history of Nepal goes back to remote antiquity. The country derives its name from a saint called Ne (or Nemuni) who lived at one time in Nepal. In the Pashuapti Purana Sanat Kumar speaks our, "A saint named Ne had protected him at one time by his meritorious works: thus it is that the country in the heart of the Himalayas called Nepal".* The Nepal Mahatmya also mentions the said Nemi, **'O Nemi, says Pashupati to him, "walk at the head of the saints of this sacred domain; it is you who must, O Treasure of austerities, protect this country on my word", and since**

then the country has been called Nepal. Dr. Wright supports the above view and observes that the great Rishi performed his devotions at the junction of the Bagmati and Keshavati and by the blessing of Swayambhu and Bajrajogi he instructed the people in the true path of religion and also ruled over the country.

तिब्बत : तिब्बत में बौद्ध धर्म सातवीं शताब्दी में पूर्वी भारत से ही मिलरेपा, शांतरक्षित, दीपांकर आदि बौद्धों के द्वारा गया। एक और विशेष ध्यान देने वाली बात है कि मिलरेपा जिन्हें बौद्ध भिक्षु कहा गया है वह दिगम्बर रहते थे। अतः या तो वे निर्ग्रन्थ थे या आजीवक यह शोध का विषय है। मायानिर्युक्ति में एक सच्चे योगी की विशेषताओं का वर्णन किया गया है जो निर्ग्रन्थ साधु से मिलता है। ए. एच. फ्रेन्क ने अपनी किताब 'History of Western Tibet' में लिखा है 'These painting represents Buddhist saints often nude and in a standing position' वास्तव में जो यह मुनियों के चित्र थे क्योंकि बौद्ध धर्म में दिगम्बरत्व का कोई स्थान नहीं होता। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने लेख **मेरी तिब्बत यात्रा** में लिखा है कि उन्होंने तिब्बत यात्रा के दौरान अनेकों अवहेलित जैन मूर्तियाँ बन्द कमरे में पड़ी हुई देखी। जिनमें से कुछ के उत्कीर्ण लेखों को उन्होंने अपने विवरण में भी दिया है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म से पहले बौनपो धर्म प्रचलित था। बौनपो भगवान तपरिष्ठ है जिसका अर्थ है तप द्वारा जिन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं का शमन किया हो। जो आदि तीर्थकर ऋषभदेव

ही हैं। बौनपो धर्म में स्वस्तिक की मान्यता जैन धर्म की तरह ही है। जब हम वर्तमान कैलास मानसरोवर की यात्रा में गये तो गाँव में हमें मकान के बाहर स्वस्तिक बना हुआ मिला ठीक उसी तरह जैसा हम मंदिरों में चावल का बनाते हैं। तिब्बत में तीर्थपुरी, पियांग गुफाओं में जैन धर्म संबंधी अनेक अवशेष देखने में आये।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद 12 वर्षों में गौतम स्वामी कहाँ-कहाँ विचरण किये इसका उल्लेख नहीं मिलता इसी संदर्भ में एक महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध हुई। स्केन्डेनेविया देशों में वहाँ के जनश्रुति में यह माना जाता है यहाँ गौतम आये थे। कर्नल टॉड ने लिखा है कि स्केन्डेवियन देशों में जो गौतम गये थे वे महावीर के शिष्य थे।

गौतम स्वामी चीन होते हुए सिल्करूट द्वारा उन देशों में गये थे क्योंकि दक्षिण पूर्वी चीन में ऐसे अनेक दृष्टांत मिलते हैं जो गौतम स्वामी से संबंधित है। मैंने गौतम स्वामी की अष्टापद यात्रा की हूंबहू नकल दक्षिणी चीन की एक पहाड़ी पर देखी जहाँ सीढ़ियाँ बनी हुई थी और उनके किनारों पर तापस लोग खड़े हुए थे। उस पहाड़ी के ऊपर 72 गुफाएँ भी थी।

दक्षिणी चीन के एक प्रसिद्ध पर्वत जिसको गंग पर्वत भी कहते हैं वहाँ से यंत्रमय मानव अर्थात् रोबोट मिला है जिसकी ऊँचाई 9 फिट की है। यंत्रमय मानव का प्राचीन वर्णन जैन साहित्य में अष्टापद के संदर्भ में मिलता है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने इसका उल्लेख किया है।

मौर्यकाल में सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल जो अपनी विमाता के षडयन्त्र के कारण अन्धा हो गया था उसने खोतान शहर की

स्थापना की थी। खोतान से प्राप्त प्राकृत भाषा के आगम प्राप्त हुए हैं। कुषाण वंश का संबंध कुणाल से था। कनिष्क के भारत आक्रमण के समय उसकी सहायता उस समय के खोतान के राजा विजयकीर्ति ने की थी जो कुणाल के ही वंशज थे। मौर्य राजाओं का प्रभाव चीन तक था। मौर्य वंश का प्रतीक सिंह था और चीन नाम भी सिंह से आया है। चीन जाने के रास्ते को सिंहपथ भी कहा जाता था। दक्षिणी चीन में ही एक पहाड़ी जिसके अन्दर गुफाओं में सैकड़ों जिन मूर्तियाँ मेरे देखने में आयी। यद्यपि देखने में ये बौद्ध मूर्तियाँ लगती थी लेकिन मूर्तियों के हाथों में ओघा होने के कारण ये जैन मूर्तियाँ कही जा सकती है। इस पहाड़ी के ऊपर चढ़ने पर वहाँ टोंके बनी दिखायी दी और इसका स्वरूप बिलकुल शिखरजी तीर्थ की तरह था। इस पर्वत के विषय में वहाँ की जनस्रुति है कि भारत के एक मुनि जिनका नाम हुइली बताया गया सोलह सौ साल पहले यहाँ आये थे और इस पर्वत को देखकर आश्चर्य चकित होकर उन्होंने कहाँ था कि यह पर्वत भारत के पर्वत की तरह है और तब से इस पर्वत को भारत से उड़कर आया हुआ पर्वत प्रचलित हो गया। इसी पर्वत के सामने बहुत बड़ा मंदिर अवस्थित है जिसमें सबसे पीछे जो मंदिर है उसमें कच्छप के ऊपर बुद्ध मूर्ति खड़ी है तथा दोनों ओर राम और लक्ष्मण उनको नमन कर रहे हैं। यह बुद्ध मूर्ति निश्चित रूप से तीर्थकर मुनि सुव्रत स्वामी की है जिनका लांछन कच्छप है और इनके शासन में ही राम और लक्ष्मण हुए थे। हमारी कैलास यात्रा के दौरान हमें यह भी जानकारी मिली थी 20वें तीर्थकर कि मुनि सुव्रत स्वामी यहाँ इस क्षेत्र में आये थे। जिस प्रकार भारत में पर्वतों के ऊपर तीर्थ निर्माण करने की परम्परा है उसी प्रकार चीन में भी पहाड़ों के ऊपर अनेक तीर्थ हैं। इनमें जो

ताओं धर्म से संबंधित है वे जैन तीर्थकरों के हैं इसके अलावा चीन के प्रत्येक प्रान्त में सैकड़ों और हजारों की तादात में मूर्तियाँ और गुफाएँ मिलती हैं जिनमें बौद्ध मूर्ति और जैन मूर्ति दोनों ही हैं। जिन व्रात्य और श्रमण शब्द का व्यवहारिक प्रयोग तिब्बत, चीन और मंगोलिया में जितना प्रचलित है उसे देखकर यह लगता है कि इन शब्दों का उत्पत्ति स्थल भी यही क्षेत्र रहा होगा। प्रान्तों के यदि प्राचीन नाम खोजे जाये तो हमें जैन धर्म के प्राचीन इतिहास की जड़े वहाँ देखने को मिलेगी। उदाहरण के तौर पर चीन के साक्षी प्रान्त का प्राचीन नाम जिन प्रान्त था। पहली सदी में कालकाचार्य का वर्णन मिलता है जो वर्मा गये थे वर्मा में उस समय उनके शिष्य, प्रशिष्य और अनेक जैन साधु-साध्वी वहाँ विचरण करते थे ऐसा उल्लेख मिलता है। वर्मा से वे टॉन्कीन वियतनाम होकर चीन गये थे। इतिहासकार रमेशचन्द्र मजूमदार ने भी उनका उल्लेख करते हुए चीन में उन्हें कालाचार्य के नाम से प्रसिद्ध बताया था।

चीन में बड़े बड़े बौद्ध विहारों के मुख्य हॉल का नाम महावीर हॉल देखने को मिलता है। वहाँ पूछने पर यह बताया गया कि महावीर बुद्ध का ही एक नाम है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि चीन में बड़े-बड़े बौद्ध विहारों के बाहर जो बौद्ध होटल हैं उनमें शुद्ध शाकाहारी भोजन मिलता है। प्याज और लहसुन वर्जित है एवं रात को खाना नहीं मिलता। यह परम्परा भारत के बौद्धों और तिब्बत के बौद्धों में आज नहीं मिलती जबकि चीन में यह परम्परा अभी भी विद्यमान है जो जैन धर्म के प्रभाव को ही परिलक्षित करती है।

वर्मा में बाहुबयी (बाहुबली) पगोड़ा है। जिसका वर्णन भूटान निवासी लामचीदास गोलालारे ने अपनी कैलास यात्रा के विवरण

में किया था। दूसरी शताब्दी तक वियतनाम को चम्पा कहते थे जो पाँच प्रान्तों में विभाजित था जिनके नाम— इन्द्रपुर, अमरावती, विजया, कोठारा, और पाण्डुरंगा थे। दो हजार साल पहले चम्पा वियतनाम में दक्षिण भारत के राजाओं का राज्य था।

अंकोरवाट के मंदिर से प्राप्त जैन मूर्तियाँ एक गहन शोध की अपेक्षा रखती हैं। अंकोरवाट का निर्माण सूर्यवर्मन ने कराया था जिनका मुख्य पुजारी उड़ीसा, कर्नाटक सीमा क्षेत्र से था और ये मंदिर उसी के दिशा निर्देश में बना था। दक्षिण के चोल राजाओं और सूर्य वर्मन का व्यापारिक संबंध भी था। अंकोरवाट और अंकोरथाम के मंदिरों की शैली बंगाल और उड़ीसा के मंदिरों की शैली से बहुत अधिक मिलती है। सराक जाति पाषाण शिल्प में बहुत ही उत्कृष्ट थी। सूर्य वर्मन के पुजारी ने इस मंदिर निर्माण की सामग्री एवं मंदिर निर्माण के लिये सराक शिल्पियों को यहाँ से बुलवाया था और यहाँ से अनेक जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

भूटान निवासी लामचीदास जी गोलालारे ने इस क्षेत्र में जिन जैन जातियों का उल्लेख किया है उनमें पातके नाम की जाति कोरिया में मिलती है। सोनावारे जैन जाति का वर्णन किरात जाति के इतिहास में हमें मिलता है जो नेपाल, तिब्बत, दक्षिणी चीन, भारत के पूर्वी राज्यों में पायी जाती है। ये क्षत्रिय वंश के थे।

जैनियों में जो अष्टमंगल की परम्परा है लगभग वहीं हमें चीन, तिब्बत और मंगोलिया में भी मिलती है। चाइनीज साहित्य में इन अष्टमंगल प्रतीकों को शरीर के अवयवों के संग जोड़ा गया है। जैसे— दो मछली-किडनी, पताका-फेफड़े, गोल्डेन वील-हर्ट, शंख-गोलब्लेडर, पद्मफूल-लीवर, वास-स्टोमक और पैरासोल-स्प्लीन।

जैन संस्कृति या हमारी आदि संस्कृति का उद्भव इस पूर्वी क्षेत्र से हुआ और यहीं से पूरे विश्व में फैला। क्या कारण है कि यह महान आदि संस्कृति जो कभी विश्व में फैली थी वह आज सिमटकर रह गयी है। इसपर गहनशोध की आवश्यकता है। भारत में 7वीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान क्षत्रिय के पतन का कारण बना। राजाओं के मन में देवी-देवताओं के भय का समावेश किया गया। यक्ष हवन करो इससे दुःख दूर हो जायेगा, समृद्धि आयेगी, कर्म और पुरुषार्थ को हीन बताकर मंत्र-तंत्र आदि में विश्वास जगाया गया, राजाओं को देवी-देवताओं की आलौकिकता का प्रभाव दिखाकर श्रमण परम्परा से विमुख किया। इस प्रकार क्षत्रिय परम्परा को खतम करके ब्राह्मणत्व का प्रभुत्व स्थापित हुआ। फलस्वरूप श्रमणों और श्रावकों को यहाँ से पलायन करना पड़ा। जो बचे थे उन्हें धर्म परिवर्तन के मजबूर किया गया। मंदिरों को नष्ट तथा उसमें मूर्ति हटाकर लिंग को स्थापित किया गया। प्रमाण स्वरूप जी.टी. रोड के पास बराकर नदी के तट पर बेगुनिया में चार प्राचीन जैन मंदिर थे जिनमें शिवलिंग स्थापित कर देने के कारण अब इन्हें शिव मंदिर कहकर प्रचार किया जाता है। इस मिथ्या प्रचार द्वारा लोगों को विभ्रमित भी कि जा रहा है। इतिहासकार बी. सी. सेन ने अपनी किताब बृहत्त बंग के इतिहास में लिखा है— “The Brahmin were responsible for wiping out Jainism from Bengal. Jain temples were converted into Hindu temples and even some of the deities who were widely worshipped were given Hindu names and worshipped as Hindu Gods without acknowledgement of their Jaina origin.”

मध्यकाल का हिन्दी जैन साहित्य

(15वीं से 17वीं शताब्दि)

कविवर श्री राजमल्लजी पांडे जैनसाहित्यगगन के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश प्राकृत और हिन्दी तीनों ही भाषाओं में रचनायें की थी। वह कवि राजमल्ल के नाम से प्रसिद्ध थे। वह अपने नाम के साथ **स्याद्वादानवद्यगद्यपद्य-विद्याविशारह** विशेषण का प्रयोग करते हुए मिलते हैं। किन्तु खेद है कि इससे अधिक उन्होंने अपने विषय में कोई परिचय नहीं दिया है। इस अभाव की पूर्ति किसी अन्य स्रोत से भी नहीं होती और इस अवस्था में कविवरजी का जीवनचरित्र अज्ञात क्षितिज में ही विलीन रहता है। हाँ, इसके विपरीत उनका पाण्डित्य सूर्य के समान प्रखर और सर्वव्याप्त है। प्रो. जगदीशचंद्र उनके विषय में लिखते हैं कि कवि राजमल्ल की रचनाओं के ऊपर से मालूम होता है कि आप जैनागम के बड़े भारी वेत्ता एक अनुभवी विद्वान थे। आपने जैन वाङ्मय में पारंगत होने के लिये कुन्द-कुन्द समन्तभद्र, नेमिचन्द्र, अमृतचन्द्र आदि विद्वानों के ग्रन्थों का विशाल तथा सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन और आलोडन किया था। पं. राजमल्ल केवल आचारशास्त्र के ही पण्डित न थे, बल्कि इतने अध्यात्म, काव्य और न्याय में भी कुशलता प्राप्त की थी, यह आपकी विविध रचनाओं से स्पष्ट मालूम होता है। वैसे कवि राजमल्लजी भगवान हेमचन्द्रजी काष्ठा संघी की आमनाय में थे, जिनका सम्बन्ध माधुरगच्छ और पुष्करगण से था। उनकी रची हुई चार रचनायें उपलब्ध हैं—

1. पंचाध्यायी, 2. लाटी-संहिता, 3. जम्बूस्वामिचरित्र और 4.

अध्यात्मकमलमार्तण्ड। कवि राजमल्लजी की पाँचवीं रचना **छन्द शास्त्र**, अथवा **पिंगल** का पता अभी चला है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह रचना ही कविजी की केवल हिन्दी में है, यद्यपि इसमें भी संस्कृत और अपभ्रंश प्राकृत का समावेश किया गया है। उस समय की साहित्यिक प्रगति और शैली का इसे प्रतिबिंब ही समझना चाहिये। यहीं नहीं, इसमें शाह अकबर के समय की कई ऐतिहासिक वार्ताओं का भी उल्लेख है। इसको उल्लेख करते हुए हिन्दी भाषा के छन्दशास्त्र को पूर्ण उद्घृत करने का लोभसंवरण हम नहीं कर सके हैं, जो परिशिष्ट रूप में दिया जा रहा है। उसमें ऐसे कई छन्दों के उदाहरण दिये हैं जो अनूठे हैं। उनकी रचना प्रसाद गुण से समलंकृत है और कवि राजमल्लजी को इस शताब्दि का श्रेष्ठ कवि ठहराती हैं, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व की वस्तु हैं। उनके कुछ उदाहरण देखिये, जिनकी हम **पिंगलशास्त्र** की उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति से उद्धृत कर रहे हैं जो आदि. जैन सरस्वतीभवन, पंचायतीमन्दिर, मसजिद खजूर, देहली में (नं. 3) विद्यमान है—

गयंद-रात्रि-गज्जियं, समाजि-वाजि-सज्जियं।

दिस-णिसान-वज्जियं, चमू-समूह-धाइयं ॥

कमाण-वाण-धारियं, कृपाण-पाणि-नारियं।

द्रुवण हुंहका रेयं, रजो गगण छाइयं ॥

वसंधराधिराज राजपूत तेजवाज, गाज राइ धाइ धाइ आइ पाइहू लगाइए।

भारमल कउ सपूतु दान मान पग्ग जुत्तु, इन्द्र के प्रताप

इंद्रसाहि जू बढाइए ॥146॥

यह मिश्र भाषा हिन्दी के बहुत निकट आती है, परन्तु निम्न लिखित छन्द तो निरे अपभ्रंश प्राकृत के ही दिखते हैं :-

गाहो गाह विगाहो, उग्गाहो साहिणायखधम्हि,
छव्विहग्गाहा भेउ, पयासिऊ पिंगलायरिहिं।।153।।
गाहाणं वीयदलं, पुव्वद्धे होदिय छद्धे।
एसो गाहो भणियो, कित्ती भण भारमल्लस्य।।154।।

इस पिंगलशास्त्र को जिन नृप भारामल्ल के लिये कवि ने रचा था, वह श्रीमालवंश के प्रतापी श्रावक-रत्न थे। वह नागौर देश के संघाधिपति थे और बादशाह अकबर के समान ही साकंभरी (साँभर) के शासनाधिकारी थे। निम्नलिखित छन्द में कवि यही बताते हैं:-

नागौरदेसम्हि संघाधिनाथो सिरीमाल,
राक्याणिवंसि सिरी भारामक्लो महीपाल।
साकुंभरी नाथ थप्यौ सिरी साहि समाणि,
राजाधिराजीवमा चक्कवट्टी महादाणि।।169।।

भारामल्लजी दानवीर के साथ युद्धवीर भी थे, यह भी पाठक देखिये-

दंति निकट वाजि विकट, जोहधिकट कुप्पियं,
सिंधुसरणि धूलि तरणि लुप्पियं।
खग्ग चमक भुम्मि दमक सद्द गभक वज्जियं,
मल्ल भणय लच्छित्तनय देवतनय सज्जियं।।196।।

हिन्दी का एक पद्य भी देखिये :-

जिनके गृहहेम महावन है जिनकी वसुधा हृद हेम दिए।
जिनकी तनजेव तरातन है तिनके धरते दरबार लिये।
सुर नंदन भारहमल्ल बली, कलि विक्रम ज्यों सक बंधविए,
जस काल गरीबनिवाज सवे सिरिमाल निवाजि निहाल किए।।
कलि विक्रम ज्यों शक बंधविए चरण इस बात का द्योतक है

कि नृपति भारामल्ल ने किसी युद्ध में यवनों को बन्दी बना लिया

था। सारांश यह कि कवि साहित्य का अनूठा रत्न है, जिस पर आज भी गर्व किया जा सकता है।

श्री देवकलशकृत ऋषिदत्ताचरित्र इस शताब्दि की एक सुन्दर रचना है। सिंहरथ राजा की रानी ऋषिदत्ता थी। उन्होंने शीलधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन किया था। अन्त में दोनों ने साधु-दीक्षा धारण की और संयम पाला। वे दोनों भद्रपुर नामक विशाल नगरी में आये। जहाँ शीतलनाथ भगवान का जन्म हुआ था। वहाँ से वह सिद्ध हुए। इसकी भाषा में गुजराती शब्द भी मिलते हैं, जिससे इसके रचयिता गुजरात देश के निवासी प्रतीत होते हैं। इसकी एक प्राचीन प्रति श्री दि. जैनमन्दिर सेठ के कूँचा दिल्ली के मन्दिर में विराजमान है। रचना का नमूना देखिये-

कणकतणी परि तनु अभिराम, तिणि कनकरथ दीधउ नाम।
गुणियण संघ घणूं तसु मगइ, निरगुण दीठा मन कमकमइ।।17।।
सूरवीर समरांगणि धीर, दाता जलनिधि जिम गंभीर।
बोलइ सुललित मधुरी बाणि, सहुको तिणि रीझइ अभिराम।।18।।

अन्त के छन्द इस प्रकार हैं-

सीतल जिन जन्मइ सुपवित्र, भहिण पुरवर छइ पवित्र।
तिहां आया गुरुसाथि, केवल कीथउ हाथि।।93।।

श्री उवझायएस(?) गछ जयवंता, पाठक देवकलोल महिमावंता।
दिनिदिनि तेज दीपंता, अतिवर गुण विहसंता।।
नवरस नवतत्त्व वाणी बपाणइ, सकल शास्त्र सिद्धांतह जाणह।।95।।
तास सीसदेग कलसिइं हरसिइं, पनरह सइ गुणहत्तरि वरसिइं।
रचिउ सीलप्रबंध, ए चरित रिपिदत्ता केरउ।
सील तणोउ नापन उनवेरउ छइ प्रगट संबंध।।96।।

इससे प्रगट है कि इस ग्रन्थ को पाठक देवकलोल के शिष्य

देवकलशजी ने संवत् 1569 में रचा था, जिनका सम्बन्ध श्वेताम्बर संघ के श्री **उवझाएस** (?) गच्छ से था।

बाबू ज्ञानचन्द्रजी ने अपनी **दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली** (पृ. 1) में पं. धर्मदासजी कृत **श्रावकाचार भाषा छन्द बद्ध** का भी उल्लेख किया है, जो वि. सं. 1578 में रचा गया था। जयपुर में बाबा दुलीचन्द्रजी के **शास्त्र भण्डार** में इसकी एक प्रति मौजूद थी।

श्री विनयचन्द्रजी कृत **चूनड़ी** ग्रन्थ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उपरान्त हमें श्रीयुत भाई पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली के विशेष अनुग्रह से दिल्ली के पंचायती मन्दिर (मसजिद खजूर) के भण्डार की एक प्राचीन पोथी देखने को मिली है। उसमें श्री विनयचन्द्रजी की (1) निर्झर पंचमी विधान कथा विनय और (2) कल्याणकविधिरास नामक दो रचनायें और दी हुई हैं। पहली रचना में भविष्यदत्त का चरित्र दिया गया है। भाषा दोनों ही रचनाओं की अपभ्रंश प्राकृत मिश्रित प्राचीन हिन्दी है। उदाहरण देखिये—

पणविवि पंच महागुरु, सारद धरिवि मणे ।
उदयचंदु मुणि वंदिवि, सुमरिवि वाल मुणे ॥
विणयचंदु फलु अरकइ, णिज्झर पंचमिहिं ।
णिसुणहु धम्म कहाणउ, कहिउ जिणागमिहिं ॥
तिहुयणगिरि तलहट्टी यहु रासउ रयउ ।
माधुर संघहं मुणिवरु विणइचंदि कहिउ ॥
भवियहु पढहु पढावहु दुरियहु देहु जले ।
माणु म करहु म रूसहु, मणु खंचहु अचलो ॥
जेण भणंति भडारा पंचमियं वय हो ।
अम्हहि ते दरिसाविय अविचलु सिद्धिपहो ॥

दूसरी रचना में चौबीस तीर्थकरों के पञ्चकल्याणकों की तिथियों का व्याख्यान किया गया है। उदाहरण देखिये—

सिद्धि सुहंकर सिद्धिपहु, पणविवि ति जयपयासण केवल ।
सिद्धिहिं कारण थुणमिहउ, सयलवि जिणकल्लाणइ
नियमल ॥सिद्धि ॥

पढम परिक दुइजहिं आसाढहिं, रिसह गम्भु तहि उत्तरसाढहिं ।
अंधारी छट्टहिं तहिमि, वंदमि वासुपूज गम्भुच्छउ ।
विमलु सुसिद्धउ अट्टमिहिं, दसमिहिं नमिजिण जम्मणु तहतउ ॥
सिद्धि ॥

एयभत्तु एकुजि कल्लाणउ, विहि निव्वियडि अहवइ गट्टाणउ ।
तिहु आयंवलु जिणु भणइ, चउडु होइ उपवास गिहत्थहं ॥
अहवा सयलह खबण विहिं, विणयचंदि मुणि कहिउ
समत्थहं ॥सिद्ध ॥

इसी उपर्युक्त पोथी में प्राचीन हिन्दी की कुछ और रचना हैं। मुनि चारित्रसेन कृत समाधि पहली चरना है। परिचय के लिए नमूना देखिए—

गणहर भासिय ए जिय संति समाधी ॥
दंसण णाण चरित्त समिद्धी, संमाधी जिणदेवहं दिट्टी ।
जो करेह सो सम्माइट्टी ॥ संमाधी ॥ 1 ॥
जीवन जाणहिं तुहुं अप्पणाउं सरीरु ।
अप्पउ जाणहि णाण गहीरु ॥ सम्माधी ॥
अइसउ जाणि जिया वहत्थ विभिन्ना ।
पुमाल कम्मवि अप्पउ भिन्ना ॥सम्माधी ॥
जोवणु धणिय धणु परियणु णासइ ।

जीव हो! धंमु सरीसउ होसइ ।। सम्माधी. ।।

चरितसेणु मुणि समाधि पढंतउ ।

भवियहं कंमु कलंकु ढहंतउ ।।सम्माधी.।।

नेमि समाधि सुमरि जिय विसु नासइ ।

जिय परमरकरि पाउ पणासइ ।। सम्माधी.।।

सोहणु सो दिवसु समाधि मरीजइ ।

जम्मण मरणह पाणिउ दीजइ ।। सम्माधी.।।

अइसी समाधि जो अणु दिणु झावइ ।

सो अजरामरु सिव सुह पावइ ।। सम्माधी ।।50 ।।

देखिए इसमें समाधि मरण का जो चित्रांकन किया गया है वह कितना सुन्दर और उपयोगी है।

मुनि महानन्दिदेव ने **आनन्दातिलक** नामक रचना साधुओं और मुमुक्षुओं की सम्बोधन के लिए आध्यात्मिक सुभाषित नीति रूप में गोपाल साह के लिए रची थी। नमूना देखिए—

चिदानंदु सानंदु जिणु, सयल सरीरह सोह ।

महानंदि सो पूजियइ, आनंदागतमंडलु थिरु होइ ।।1 ।।

अप्पु निरंजणु अप्पु सिउ, अप्पा परमानंदु ।

मूढ कुदेवु न पूजियइ, आनंदागुर विणु भूलेउ अंधु ।।2 ।।

अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहिं भमंतु ।

अप्पा बिंदु न जाणही, आनंदा घट महि देउ अणंतु ।।3 ।।

भितरि भारिउ पापमल, मूढा करहिं सनाणु ।

जे मल लागा चित्तमहि, आनंदा ते किम जाहि सनानि ।।4 ।।

ध्यान सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करहिं सनाणु ।

अट्ट कम्ममल धोवही, आनंदा नियउइहु निव्वाणु ।।5 ।।

सद गुरु उवयारे ने याउ, हउ भणेवि महानंदि देउ ।

सिव पुरु जाणिउ णाणियहं, आनंदाकरमि चिदानंदु देउ ।।42 ।।

कहीं-कहीं तो रचना बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है।

पण्डित श्री हरिचन्द्र अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने **पद्धड़ी छन्द** में **अनस्तमित व्रत सन्धि** रची थी, जिसमें रात्रि भोजन का निषेध मनोहर रीति से किया है। कवि ने इसकी रचना में किसी कथानक का सहारा नहीं लिया है। बल्कि यह एक स्वतंत्र रचना है। सोलह सन्धियों में कवि ने इसे पूरा किया है। प्रत्येक सन्धि के अन्त में एक **घत्ता** छन्द है। उसकी भाषा अलवत्ता कहीं-कहीं पर पूर्णतया प्राकृत से जा मिली है वैसे उसे हम प्राचीन हिन्दी ही मानते हैं। उदाहरण देखिये—

आइ जिणिंदु रिसहु पणवेप्पिणु, चउवीसह कुसुमंजलि देप्पिणु ।
वड्डमाणु जिणु पणविवि भाविं, कलमलु कलुसवि वछिउपावें ।

इस सन्धि में वर्द्धमान प्रभु का सौधर्मेन्दु द्वारा स्नानोत्सव का वर्णन करके दूसरी सन्धि में उनकी स्तुति की है। तीसरे में मनुष्य भव की दुर्लभता बताकर धर्म पालने का उपदेश दिया है।

दुलहउ पावेप्पिणु मणुय जम्मु, जिणनाहें देसिउ मुणिवि धम्मु ।
महु मज्ज मंसु नउ अहिलसेइ, पंचुंवर न कयाइ विगसेइ ।

चौथी सन्धि में कवि निशि भोजन निषेध कथन की प्रतिज्ञा करता है और आगे की सन्धियों में निशि भोजन के दोषों को विविध प्रकार से हृदयंगम कराता है। वह लिखता है—

रयणिहिं भुंजंतहं दोसु होइ, एरिसु मुणिवर जंपंति लोइ ।

जहिं भमहिं भूयरक्खस रमंति, जहिं वितर पेयहं संचरंति ।

जहिं दिट्ठि णय सरह अंधु जेम, तिहिं गास सुद्धि भणु होइ केम ?

किमि कीड पयंगइ झिंगुराइं, पिप्पीलइ डंसइ मछराइं।
खज्जूरइ कण्णसलाइयाइ, अवरहं जीवइ जे बहु सयाइं।
अन्नाणी निसि भुंजंत एण, पसु सरसु धरिउ अप्पाणु तेण।
जं वालिवि दीवउ, करि उज्जोवउ, अहिउ जीउ संभवइ परा।
भमराइ पयंगइं, बहुविह भंगइं, मंडिय दीसइ जित्थु धरा।।5।।

इसी रीति से कवि ने निशि भोजन की भयंकरता का निर्देश किया है और स्त्रियों को खासकर सम्बोधा है कि उन्हें रात्रि में अशन नहीं करना चाहिये।

जा तिय रयणिहिं भोयणु करेइ, सा अप्पउ बहु पावह भरेइ।
उप्पज्जइ दालिहिय घरंमि, अहवा दोहग्गिणि जम्मि जम्मि।
इसलिए :-

जा उत्तम कुलि उप्पण्ण नारि, निम्मलु जिणभासियं धम्म धारि।
सा रयणिहि असणु न आयरेइ, आहारदाणु भावेण देइ।।

कवि कहते हैं कि जो इस विधि को सुनेगा और पालन करेगा वह देवगति और मोक्ष का सुख प्राप्त करेगा।

एहु अणथमिउ जो पउइ पढावइ, सो णरुणारि सुरालउ पावह।
जो अखिलिउ अणथमिउ करेसइ सो णिव्वाण णयरि पयसेसइ।।

अन्त इन छन्दों के साथ किया गया है :-

वील्हा जंडू तणाएं जाएं, गुरुभतिए, सरसइहिं पसाएं।
अयरवालवरवंसे, उप्पण्णह महहरियंदेण।

भतिए जिणु पणवेति, पयडिउ पद्धडिया छंदेण।।16।।

विद्याभूषण सूरिने- भविष्यदत्तरास रचा है जो श्री दि. जैन पंचायती मंदिर दिल्ली में है। इनकी एक अन्य रचना वसन्तनेमि का फाग है। भ. प्रतापकीर्ति का रचा हुआ श्रावकाचार रास सं. (सं.

1574) भी उक्त मंदिर के भंडार में है।

सत्रहवीं शताब्दि के आरंभ काल में ही शरी रायमल्लजी ने अपनी निम्नलिखित रचनायें रची थी। उनके पश्चात् इस शताब्दि में और अनेक जैन कवियों के अस्तित्व का पता चलता है। निस्सन्देह यह शताब्दि मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य के अत्कर्ष मे अपनी विशेषता रखती है। कविवर बनारसीदासजी सद्दश महान कवि इसी शताब्दि में हुए हैं। उन्होंने परिष्कृत हिन्दी में अपनी रचनायें रची थीं, किन्तु अभी तक ऐसे कवि भी मौजूद थे जो अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में पद्य रचना रचते थे। ठीक आज कल के समान ही उस समय की परिस्थिति थी। आज यद्यपि खड़ी बोली में पद्य रचना करने की शैली प्रचलित है। परन्तु ब्रजभाषा में कविता करने वालों का सर्वथा अभाव नहीं है। इसी तरह उस समय यद्यपि संस्कृत हिन्दी को प्रधान पद प्राप्त था, परन्तु पुरानी अपभ्रंश-हिन्दी में लिखने की शैली बिल्कुल बन्द नहीं हो गई थी। इसके लिये ब्रह्मचारी रायमल्ल की रचनाओं को ही देखिये।

ब्रह्म. रायमल्लजी मूलसंघ शारदगच्छ के आचार्य रत्नकीर्ति के पट्टधर मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। उन्होंने हनुमन्त चरित्र की रचना वि. सं. 1616 में की थी, जिसकी एक प्रति हमें दिल्ली के सेठ के कूचा के जैन मंदिर के भंडार से देखने को मिली है। ब्रह्म. रायमल्लजी की कविता साधारण और भाषा अपभ्रंश शब्दों से रिक्त नहीं है। उदाहरण देखिये—

कूंकू चंदन धसिवा धरणी, मांझि कपूर मेलि अति घणी।
जिणवर चरण पूजा करी, अवर जन्म की थाली री।।41।।
राय भोग केतकी सुवास, सो भाविया वंदऊ जास।
जिणवर आगैं पपालि, जाणि मुकति सिर बंधि पालि।।32।।

दिन गत भयो आथयो भाण, पंषी सब्द करै असमान।
 मित्त सहित पवनंजै राय, मंदिर ऊपर बैठो जाय।।44
 देषै पंषी सरोवर तीर, करै शब्द अति गहर गहीर।।
 दसै दिसा मुष कालो भयो, चकहा चकिही अंतर लयो।।44
 तासु सीप जिण चरणा लीण, ब्रह्म रायमल्ल मति करि हीण।
 हंणू कथा कीयो एग्गास, क्रियावंत मुनीसर दास।।76।।
 भणी कथा मन में धरि हर्ष, सोलह सै सोलह शुभ वर्ष।
 राति वसंत मास बैशाख, नवमी सनि अंधारे पाप।।77।।

पं. नाथूरामजी प्रेमीजी ने **ब्रह्म रायमल्ल** को ही **पांडे रायमल्ल** समझा है। इसका कारण यही हो सकता है कि उनके सन्मुख **हणुमंत चरित्र** नहीं था। इस चरित्र में उन्होंने अपने को कहीं भी पांडे नहीं लिखा है। सोलहवीं शताब्दि में हुए पिंगल शास्त्र के रचयिता कविवर रायमल्लजी पांडे कहलाते थे और वह कविवर बनारसीदासजी से पूर्ववर्ती विद्वान हैं। अतः कविवर बनारसीदासजी से पूर्ववर्ती विद्वान हैं। अतः कविवर बनारसीदासजी ने इन्हीं के लिये यह लिखा होगा कि पांडे रायमल्लजी समयसार नाटक के मर्मज्ञ थे। उन्होंने समयसार की बालबोधिनी भाषा टीका बनाई जिसके कारण समयसार का बोध घर घर फैल गया। समयसार सदृश आध्यात्मिक ग्रन्थ का बोध सर्वसाधारण में फैलना उस समय के वातावरण को वेदान्ती ज्ञान से प्रभावान्वित प्रकट करता है। सन्त और सूफी कवियों ने वेदान्त को आगे बढ़ाया था, यह हम पहले लिख चुके हैं।

बाबा दुलीचंदजी की हि. जै. ग्रन्थ सूची में इनके द्वारा सं. 1663 में रचे गये **भविष्यदत्त चरित्र** का भी उल्लेख है। बाबू ज्ञानचन्द्रजी ने भी अपनी दि. जैन भाषा ग्रंथ नामावली (पृ.1) में

इन दोनों ग्रन्थों को ब्र. रायमल्लजी कृत अंकित किया है।

प्रेमीजी ने अपने इतिहास (प.50) में एक अन्य ब्र. रायमल्लजी का उल्लेख किया है, जो सकलचन्द्र भट्टारक के शिष्य थे और हूमड़ जाति के थे। उन्होंने सं. 1667 में भक्तामरकथा की रचना की थी। सीताचरित्र भी शायद इन्हीं की रचना थी।

कवि ब्रह्मगुलाल चंदवार (फिरोजाबाद, जिला आगरा) के पास टापू नामक ग्राम के निवासी पद्मावती पुरवाल जैन थे। उनका जीवनचरित्र कवि छत्रपति ने लिखा है, जिससे प्रगट है कि वह दिगम्बर मुनि हो गये थे। उनकी रची हुई **कृपण जगावन कथा** अलीगंज के श्री शान्तिनाथ दि. जैन मंदिर के शास्त्र भंडार में हमें देखने को मिली है। दिल्ली के पंचायती मंदिर में भी इसकी एक प्रति है। यद्यपि इसकी रचना असाधारण नहीं है, परन्तु इसकी कथा बड़ी रोचक और सरस है। इसी कारण इस रचना में काव्यकी सरसता आ गई है। कवि ठकरसी के कृष्ण चरित्र से इसका कथानक भिन्न है जिसे कवि ने किसी संस्कृत भाषा के कथा कोष से लिया है। मंगल पद्य इसके जरा देखिये—

कुमति विभंजन सुमति करु, दुरितदलन गुणमाल।
 सुमतिनाथ जिन चरण को, सेवकु ब्रह्म गुलाल।।

सुमिरि सुमति जन मंगल धामा, विघटण विघण, करण सुपणामा।

इस ग्रन्थ की कथा का सार यह है कि राजगृह नगर में वसुपति राजा था। वहाँ ही एक सेठ की पुत्री रहती थी; जिसके जन्मते ही कुटुम्ब का नाथ हो गया था। इसलिये लोग उसे क्षयंकरी कहते थे। एक दिन वसुपति राजा वरदत्त मुनीन्द्र की

वंदना को पुरवासियों सहित गया। क्षयंकरी भी गई। मुनि अवधि ज्ञानी थे। उन्होंने क्षयंकरी की दुर्दशा का कारण उसका पूर्व संचित कर्म बताया। पहले एक भव में वह उज्जैन के सेठ धवल की पत्नी मल्लि थी। उज्जैन के राजा पद्मनाथ ने आष्टाहिक पर्व का उत्सव सार्वजनिक रूप में मनाया। धवल सेठ भी उसमें सम्मिलित हुये। लेठानी मल्लि कृपण थी उसे यह न रुचा। जब उसे यह समाचार मालूम हुआ तो वह इस प्रकार सोचने लगा—

मल्ली सुनि मन चिंतइ आपु, किरपनता करि विढवै पापु।
सेठ वचन मल्ली के कान, मनहु कठिन लगे उर वान।।
पुरुष न जानै घर की रोति, घरु घरसी बिनु जाइ विनीत।
इनके कहत लागिये आजु, आगै मोहि बहुतु है काजु।।
ऐसा देव परम जो मोहि, तौं जह धरु चौपटु सो होई।
कीजै सो निबहै सो ठौर, आजु परचि का खैहें भोर।।
ऊंची करि करु दीजै दानु, जौर घटे काहुको मानु।
सो फिरि माई चेरी होइ, जह दुषु करै कौनु धरु पोइ।।
जती व्रती सौं गहीवे मौनु, बार बार दै गिधवै कौनु।

किन्तु मल्ली सेठजी की आज्ञा को टाल न सकी। उसे पूजा के लिये सामग्री और पकवान बनाना पड़ा, परन्तु उसने बड़ा सड़ा गला सामान जुटाया। जब सेठ मुनि आहार दें तो वहाँ उसने शुद्धाशुद्धि का विवेक न रखा बल्कि मुनियों के मलिन शरीर को देखकर घृणा की और अपने पति से निरंतर लड़ती रही। परिणामतः वह कोढ़िन हुई और नरक के दुख भोगने लगी। उधर वरदत्त मुनि ने एक अन्तर कथा कहकर यह निर्देश किया कि स्त्रियाँ ही कृपण नहीं होती, पुरुष भी कंजूस होते हैं। उन्होंने बताया कि कुंडल नगर में लोभदत्त सेठ रहते थे। कमला और लच्छा उनकी उदारमना

स्त्रियाँ थी। सौँत थी, पर कभी लड़ती न थी। धर्म करने को सदा तत्पर रहती थी। सेठजी महालोभी थे। भंडारे का और घर के द्वारे का ताला अकड़कर व्यापार के लिये जाते थे। कवि कहते हैं—

जबहि होई जैवे की वार, जब घर दे जाहिं ठोकि किवोर।
लोभदत्त घर सेठिनि दोइ, काटहि जनसु झीषि झीषि रोइ।।
रातौ पहिर, ण तातौ पांहि, घर महु परी परी पछिताहिं।
जेठी कमला लहुरी लच्छा, दीजै औरु न छरी वछा।।

किन्तु सन्तोष का फल उन्हें मीठा मिला। एक दिन दो चारण मुनि उनके द्वार पर आ गये, जिनके पुण्य प्रभाव से द्वार खुल गये। सेठानियों ने अपना भाग्य सराहा, पर सेठ के कारण वे असमंजस में पड़ गई। इस समय लच्छा बोली—

लहुरो लच्छा कह्यौ सुनि भाइ, घर आयौ मुनिवरु फिरि जाइ।
इह पछितायै मिटै न सल्लु, दूजो आजु बगर मह पल्लु।।
हां तीं करौ किं मारौ धाइ, हम नहिं जूकैं यैसी दांइ।
जह औसरु कहि कैसे फेर, मिल्यौ जो जिन अंध बटेर।
जो अब करहिं सेठकी कानी, तौ वरत कौ आवै हानी।
मीठे वचन लच्छा के कहैं, कमला के मन सांचे रहैं।।

दोनों ने मिलकर मुनियों को आहार दिया। मुनियों ने कृपा करके उन्हें आकाशगामिनी और बंधमोचनी विद्यायें बता दी। अब तो जब सेठ उन्हें किवाड़ों में बंद करके चले जाते तो वह अपनी विद्याओं से काम लेती और मनमानी तीर्थयात्रा करती। एक दिन पड़ोसिन रूठकर आई और चुपके से उनके विमान में बैठ गई। सेठानी सहस्रकूट चैत्यालय की वंदना करने गई। पड़ोसिन ने वहाँ खूब माणिक-मोती इकट्ठे किये और उनके साथ वापस घर आ गई। संयोग की बात पड़ोसिन ने रत्न लोभदत्त सेठ के हाथ बेचे। सेठ

लोभी तो थे ही। उन्होंने पूछा, **तू इन्हें जहाँ से लाई वह खानि मुझे भी बता दें।** पड़ोसिन रूपयों के लालच में राजी हो गई और सेठजी को चुपके से विमान की खुखाल में बैठा दिया। सेठानियाँ रत्नद्वीप के जिन मंदिरों की वंदना करने गई। सेठ ने वहाँ खूब रत्न बटोरे, परन्तु फिर भी उनकी नीयत न भरी। लोभ तृष्णा को लिये हुए वह चुपके से विमान की खोल में बैठ गये, परन्तु उनके पाप का घड़ा भर चुका था। अनहोनी हुई—

जलनिधि अंत प्रोहनु फटौ, भियौ कोलाहल बहु जन रटौ।
फेरि वदनु चितई सुकमाल, बृढत तिनहिं शरण भई बाल।।
करि आकर्षु सकल उद्धरे, प्रोहन सहित उदधि तट धरे।
पोलो काटु दयौ छुटकाइ, लोभदत्तु सेठि विललाइ।।
हाइ हाइ करि परयौ मंझार, पेटु भन्यौ पारी जलधार।
पोटे ध्यान तजै निज प्राण, लोभदत्तु गए नरक निदान।।
लछिमी कहाँ? कहो को पाइ? लागे बहि कितह मुकुयाइ।
लछिमी तनौ लाभ नहिं लेइ, होते भवन पाइ नहिं देइ।।
ताकी गति यह जानहु त्यान, लोभ दीजि मन तजे परान।।

सेठानियों को जब सेठ के मरण का दुखद वृत्त ज्ञात हुआ तो उनके शोक का पार न रहा। आखिर वह उनका पति था। पर वे करती क्या? संतोष धारण किया और अपना सारा जीवन जिनेन्द्र पूजा करने और मुनियों को दान देने में बिता दिया। अन्त में सन्यासमरण करके वे देव हुईं। श्रावक धर्म की महत्ता को उन्होंने अपने आदर्श चरित्र से स्पष्ट कर दिया। इस कथा को कहकर वरदत्त मुनि ने बताया कि मल्ली सेठानी का जीव दुर्गति के दुख भुगत कर क्षयंकरी हुआ है। यदि क्षयंकरी श्रावक व्रत पाले तो अपने पापों से छुटकारा पा सकती है। अंधे को दो नयन मिले। क्षयंकरी

ने धर्म धारण किया और जिन पूजा करने और साधुओं की भक्ति करने में जीवन बिता दिया। समपरिणामों से शरीर त्याग कर वह स्वर्गों में देवता हुई। वसुपति राजा ने जब मूर्तिपूजा में शंका की तो आचार्य बोले—

जिम माला करि लीजै नामु, चित्र नारि देवै जिन वामु।
जिम कर दाण चलतु घात, कनक लोइ जिम भूषण गात।।
जिम घट अछर घट कौ ज्ञानु, इमि देषै प्रतिमा जिन ध्यानु।
घट कारण घट की उत्पत्ति, पट कारण पटु उपजै सत्ति।।
प्रतिमा कारणु पुण्य निमित्त, विनु कारण कारज नहिं मित्त।।
प्रतिमा रूप परिणवै आपु, दोषादिक नहिं व्यापै पापु।।
क्रोध लोभ माया बिनु मान, प्रतिमा कारण परिणवै ज्ञान।
पूजा करत होइ यह भाउ, दर्शन, पाए गलै कपाउ।।

यह चरित्र उस समय की सामाजिक दशा और धार्मिक विश्वास को प्रगट करने के लिये भी महत्त्व की चीज है। सन्त जन और सूफी लोग **नाम** की रटना माला के आधार से करते थे। जब निर्जीव माला से प्रभु दर्शन हो सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि प्रभु की प्रत्याकृति से उनका भास न हो? एक ओर मूर्तिपूजा का विरोध था तो दूसरी ओर उसका समर्थन। यह अन्य ब्रह्मगुलालजी ने जिनेन्द्र की मूर्तिपूजा और मुनियों को आहारदान देने की पुष्टि में रचा था। उसकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

सुनहु कथा तुम भव्य महान, जाहि सुनै मन बाढ़ै ज्ञान।
कृपन जगावन याकी नांउ, पठै गुणै ताकी बलि जांउ।।
जगभूषण भट्टारक पाइ, करौ ध्यानु-अंतरगति आइ।
ताकौ सेवगु ब्रह्म गुलाल, ीजी कथा कृपन उर सालु।।

मध्यदेश रपरी चंदवार, ता समीप टापू सुपसार ।
 कीरतसिंध तहाँ धुर धरै, तेग त्याग को समसरि करै ॥
 यह मंडल कीनु गो-धीरु, कुल दीपक उपज्यो महि वीरु ।
 अति उदार कीनु जगदीस, जी जौ कुलकरु कोरि वरीस ॥(?)
 मथुरामल्ल भतीजो उरु, धर्मदास कुल कौ सिरमौरु ।
 अति पुनीतु सुमानहु वयौ, कलि महुँ सेठि सुदरसनु भवौ ॥
 ता उपदेस कथा कवि करी, कवित चौपही सांचै ढरी ।
 ब्रह्म गुलाल गुरु नेकी छाह, पूरी भई जो रषिमाह ॥
 सोरह सै इकहत्तर जेठ, नुंमीहि दिवस सुमरि परमेठि ।
 कृष्ण पक्ष शुभ शुक्कर वारु, साहि सलैम छव सिर भारु ॥

इस प्रसस्ति से स्पष्ट है कि कवि गुलालजी भगवान जगभूषण के शिष्य थे। वह रपरी और चंदावर गांवों के पास बसे हुए टापू गांवों में रहते थे। जो आजकल जिला आगरा के अन्तर्गत हैं। वहाँ का राजा कीरतसिंह था, जिसने कोसम (इलाहाबाद) का किला जीता था और इस मंडल को गौ रक्षक बनाया था। वहाँ ही धर्मदास के कुल में मथुरामल्लजी रहते थे। जो ब्रह्मचर्य व्रत पालने में सेठ सुदर्शन के समान थे। कवि ने उन्हीं के उपदेश से यह ग्रन्थ संवत् 1671 में रचा था। कवि एक सिद्धहस्त कलाकार थे। ब्रह्मगुलाल के रचे हुए अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। किन्तु हमारे देखने में नहीं आए हैं।

पं. अचलकीर्ति का रचा हुआ **विषापहार स्तोत्र भाषा** सं. 1923 के एक गुटका में लिखा हुआ मिला है। नमूना यह है—

विश्वनाथ विमल गुण ईश, विहरमान बंदौ जिन वीस ।
 गणधर गौतम शारद माइ, वर दीजै मोहिं बुद्धि सहाइ ॥

पढ़ै सुने जे परमानन्द, कल्पवृक्ष महा सुख कन्द ।
 अष्टसिद्धि नवनिधि सो लहै, अचल कीर्ति पंडित हम कहै ॥
 इनकी एक रचना **अठारहनाते** नामक है, जिसमें आपने अपना परिचय यों लिखा है—

धर्म कीये धनि होत है, धर्म कीया धन होय ।
 अचलकीरति कवि यों कहै, धर्म करौ सब कौय ॥

—काममहा. ॥57 ॥

सहर पिरोजाबाद में हों, नांता की चौढाल ।
 बार बार सब सों कहों, सीपो धर्म विचार ॥

—काम महाबली जी, सुन पिय चतुर सुजान ॥57 ॥

श्री दिगम्बर जैन पंचायती मंदिर दिल्ली की प्रति में रचयिता का नाम कमलकीर्ति न मालूम किस तरह लिखा गया है।

पाण्डे जिनदास के रचे हुए **चम्बूचरित्र** और **ज्ञानसूर्योदय** नामक दो पद्य ग्रन्थ मिलते हैं। कुछ फुटकर पद भी हैं। **जम्बू चरित्र** संवत् 1642 में रचा गया था। उनके **जोगीरासा** का नमूना देखिये—

ना हौं राचौ णा हौं विरचौं, णा कछु भंति ण आणौ ।
 जीव सबै कुइ केवलज्ञानी, आप्पु समाणा जाणउ ॥21 ॥
 मोह महागिरि षोदि बहाऊँ, इंदिय धूलि न रापउ ।
 कंदर्प सर्प निदप्प करे बिनु, विषय विषम विधु नाखौ ॥22 ॥

(क्रमशः)

सोने के कंगन

कुसुमायुध की आयु पकने लगी। बालों में सफेदी आ गई। कायबल क्षीण होने लगा था। सांसारिक सुख भोगों में उसकी रुचि कम हो गई। उसका अधिकांश समय आत्म-मनन और चिंतन में व्यतीत होता। हृदय में वैराग्य भावना बलवती होती चली जा रही थी। कुसुमायुध तत्पर था संयम लेने के लिये—बस, आवश्यकता थी किसी निमित्त की। भावभूमि तैयार थी, वैराग्य का बीज जम चुका था केवल धूप और हवा मिलना शेष था। यह निमित्त मिलनेभर की देर थी, वैराग्य के वटवृक्ष के लहराने की नहीं।

वह निमित्त भी मिल गया। वनपालक ने सूचना दी—मुनिराज सुन्दर पधारे है।

कुसुमायुध परिवार सहित मुनिवन्दन हेतु गया। गुरुदेव की कल्याणकारी देशना ने राजा की वैराग्य भावना को परिपक्व कर दिया। वह पुत्र कनककेतु से बोला—

—पुत्र! राज्य की धुरा अब तुम धारण करो। मैं तो प्रव्रजित होता हूँ।

पुत्र ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—तात! आप को इस संसार को छोड़कर आत्मकल्याण करना चाहते हैं और मैं भवभ्रमण के चक्र में फँसा रहूँ। मुझे भी आज्ञा दीजिये। मैं भी दीक्षा लूँगा।

पिता ने बहुत प्रयत्न किया कि पुत्र राज्यभार संभाल ले किन्तु पुत्र ने विनीत स्वर में स्पष्ट इनकार कर दिया।

अन्त में देवसेनकुमार को राज्य का भार सौंपा और पिता पुत्र दोनों प्रव्रजित हो गये।

सुकुमायुध एवं कनककेतु दोनों मुनियों ने निर्मल चारित्र का पालन किया और कालधर्म प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

पृथ्वीचन्द्र और गुणसागर : ग्यारहवाँ भव :

कुसुमायुध का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से अपना आयुष्य पूर्ण करके अयोध्या के राजा हरिसिंह की पटरानी पद्मावती की कुक्षि में अवतरित हुआ।

इस महापुण्यशाली जीव के पुण्य-प्रताप से रानी पद्मावती को स्वप्न में विमान दिखाई दिया और उसे दोहद उत्पन्न हुआ कि सम्पूर्ण जगत का कल्याण किया जाय। अपनी शक्ति के अनुसार वह प्राणियों का उपकार करने भी लगी। वह दोनों हाथों से दान देती और अनेक धर्मकार्य भी करती। उसके द्वार से कोई भी दीन-दुखी और याचक निराश वापिस न जाता।

गर्फकाल पूरा होने पर रानी के पुत्र को जन्म दिया। राजा ने पुत्र का नाम पृथ्वीचन्द्र रखा।

पृथ्वीचन्द्र वास्तव में पृथ्वी का चन्द्रमा ही मालूम पड़ता था। रूप और गुणों का वह भंडार ही था। चन्द्र के समान सौम्य रूप था उसका।

कुमार चन्द्र के समान ही बढ़ने लगा। जिस प्रकार चन्द्रमा एक-एक कला से बढ़ता जाता है वैसे ही कुमार भी।

देखते-देखते कुमार युवक हो गया। युवावस्था में भी पृथ्वीचन्द्र पृथ्वी के समान धैर्यशाली और गम्भीर तथा चन्द्र के समान ही सौन्य बना रहा। युवकोचित उच्छृंखता व खेलकूद में उसकी रुचि बिलकुल न थी। उसके मुख पर हँसी न आती तो विषाद की छाया भी दिखाई न देती—मानो कोई निस्पृह संत किसी गहन चिन्तन में डूबा हुआ हो।

कुमार का चिन्तन आत्म-परक था और दृष्टि अन्तर्मुखी। वह संसार के मायाजाल को छोड़कर संयम ग्रहण करने का विचार किया करता। रात-दिन उसके मन-मस्तिष्क में एक ही विचार घूमता रहता—वह धन्य दिन कब होगा जब मैं साधु वृत्ति स्वीकार करूँगा। सांसारिक सुख-भोगों में उसकी कोई रुचि नहीं थी।

पिता ने इस अरुचि का कारण समझा—स्त्री का अभाव। राजा हरिसिंह की विचारधारा भी अन्य सामान्य पिताओं के समान थी। उन्होंने समझा—यदि पुत्र को स्त्री-सम्पर्क मिल जायेगा तो यह उदासीनता समाप्त हो जायेगी।

स्त्री संसर्ग का समाज मर्यादा के अनुसार एक ही साधन है और यह है विवाह। राजा ने भी अपने पुत्र का लग्न कर दिया—एक नहीं दो नहीं, सोलह कन्याओं से। एक से एक बढ़कर रूपवती और गुणवती। उनमें भी सर्वश्रेष्ठ थी ललित सुन्दरी।

राजा ने कुमार के चारों ओर माया का पाश लगा दिया। सोलह सुन्दरियों के सुन्दर रूप जाल में कुमार पृथ्वीचन्द्र फड़फड़ाने लगा।

पुत्र ने पिता के प्रति विनय के कारण विवाह तो स्वीकार कर

लिया किन्तु अपने वैराग्यशील हृदय को न बदल सका। वह विषय-भोगों में न रमा। पत्नियाँ जब भी कामभोग की बात करती तो वह वैराग्य प्रवचन देने लगता। उनकी कामाग्नि को धर्म-भावना से शांत करता।

पृथ्वीचन्द्र कुमार के चारों ओर कसा हुआ मायाजाल निष्फल हो गया। उसकी प्रवृत्ति पूर्ववत् बनी रही। न उदासीनता में कोई कमी आई, न सुख-भोग की ओर रुचि हुई।

अयोध्यानरेश हरिसिंह आश्चर्यचकित थे। कुमार मोहिनियों के मोह-पाश में न फँस सके तो और क्या उपाय किया जाय कि इनकी रुचि सांसारिक कार्यों में लगे। यहीं चिन्ता राजा हरिसिंह के मन-मस्तिष्क में समायी रहती।

एक ही तो पुत्र और वह भी उदासीन वृत्ति का। क्या होगा इस राज-पाट का? कौन भोगेगा इस अधिकार को, वैभव को?

पुत्र की प्रवृत्ति अब बदले, अब परिवर्तित हो—प्रतीक्षा करते-करते पिता के बाल पकने लगे। वह अधीर हो गया।

मानव को संसार में फँसाने के दो साधन हैं—कर्तव्य और लिप्सा। लिप्सा—यश की ओर भोग की। कुमार को लिप्सा तो दोनों में से किसी प्रकार की भी नहीं थी। सुख-भोगों की ओर तो वह फूटी आँख भी नहीं देखता और अपनी प्रशंसा-यश सुनकर संकुचित हो जाता अथवा उठकर चला जाता।

कुमार पृथ्वीचन्द्र पर लिप्सा का साधन तो विफल हो गया। अब पिता ने उसे कर्तव्य बंधन में बाँधने का विचार किया। पुत्र का

कर्तव्य क्या है—पिता के भार को हल्का करना, उसका उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेना।

राजा ने राज्य-भार पुत्र को देने का निश्चय किया।

अवसर पाकर एक दिन पिता ने पुत्र से कहा—

—वत्स! अब तुम युवा हो गये हो और मैं वृद्ध। तुम गुणी और अनेक कलाओं से निपुण हो। अपने कर्तव्य का पालन करो।

—पिताजी। मेरा कर्तव्य क्या है?

—पुत्र! तुम्हारा कर्तव्य है मेरा उत्तरदायित्व ग्रहण करना। मेरे लिये यह लज्जा की बात है कि तुम जैसे योग्य पुत्र के होते हुए भी मैं राज्य-संचालन करूँ। हमारे कुल की रीति है पिता युवा पुत्र को राज्य देकर स्वयं संयम धारण कर लेता है। अब तुम राज्य की धुरा सँभालो और मुझे अवकाश दो। यही तुम्हारा कर्तव्य है।

विनीत पुत्र ने पिता को कोई उत्तर नहीं दिया। मन ही मन विचार करने लगा— मेरे हृदय में तो संसार को छोड़ने की भावना है और पिताजी मायाजाल में फँसाते जा रहे हैं। एक के बाद एक बंधन बढ़ाते जा रहे हैं। इच्छा न होते हुए भी पिताजी की आज्ञा के कारण मैंने विवाह स्वीकार किया। मैं पत्नियों को समझा-बुझाकर संयम लेने का विचार कर रहा हूँ और पिताजी मुझे दूसरे जाल में फँसा रहे हैं। मुझे राज्य का बिलकुल भी मोह नहीं है। यह सुख-वैभव काँटे की तरह खटकता है। पिताजी मुझे इसी में लगाना चाहते हैं। मैं क्या करूँ क्या न करूँ? इन्कार करने से पिताजी को दुःख होगा और स्वीकार करने से मेरा वंधन और जटिल बन जायेगा।

कुमार ऊहापोह करता ही रह गया। पिता ने उसके मौन को **मौनं सम्मति लक्षणं** समझ लिया। तुरन्त मंत्रियों को बुलाय और पुत्र का अभिषेक कर दिया।

संकोच कार्यहानि का कारण होता है। पृथ्वीचन्द्र कुमार की भी संयमेच्छा टल गई। वह संयम पर आरूढ़ होने के बदले सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। आत्म-राज्य के बजाय वह अयोध्या का राज्य भोगने लगा। चारे वह निस्पृह ही था किन्तु था तो राजा-राजा पृथ्वीचन्द्र।

राजा पृथ्वीचन्द्र की राजसभा में निन्दा, अभिमान, चाटुकारिता आदि न होकर मोक्ष और मोक्ष-मार्ग की ही चर्चा चलती रहती। राज्य में सर्वत्र सुख-शांति व्याप्त थी। प्रजा आनन्दमग्न थी। किसी को कोई अभाव न था। इति-भीति, वैर-विरोध विस्मृत हो चुके थे। अपराध करना लोग भूल ही गये। न्याय के लिए कोई आता ही न था। सभा में अबाधरूप से तत्त्वचर्चा चलती रहती।

एक दिन राजा पृथ्वीचन्द्र राजसभा में बैठा था। सभा धर्म चर्चा में लीन थी। उसी समय सुधन नाम के वणिक् ने प्रवेश करके राजा के समक्ष भेंट रखी और अभिवादन करके खड़ा हो गया। राजा ने पूछा—

—सेठ! कहाँ से आ रहे हो?

—महाराज! हस्तिमापुर से।

—वहाँ का कोई जानने योग्य नवीन समाचार हो तो सुनाओ।

अत्यधिक आश्चर्यजनक घटना घटी वहाँ पर। बहुत ही कौतुकपूर्ण।

—कौतुकों में मेरी रुचि नहीं है, क्योंकि—

कौतुक लखता बहु गया, काल अनादि अनंत।

सेठ सुधन ने दोहा पूरा कर दिया।

—पर वह कौतुक जग बड़ा, सुन हो आतम शांत।।

और सुनकर होय जो आतम को उपकार।

वक्ता श्रोता मन रमें, कौतुक वही उदार।।

राजा पृथ्वीचन्द्र का हृदय कमल खिल गया, सेठ के दोहे को सुनकर वह बोला—

—श्रेष्ठि सुधन! ऐसी ही कौतुकपूर्ण घटना हो तो सुनाओं।

—महाराज! ऐसी ही घटना है। बड़ी अद्भुत और संवेगकारिणी। मैं तो क्या, नगर के सभी आवाल वृद्ध नर-नारी आश्चर्यचकित रह गये। मैंने तो अपने जीवन में आज तक ऐसा कौतुक न देखा, न सुना।

—उत्सुकता मत बढ़ाओ श्रेष्ठि! घटना सुनाओं। हम उस घटना को सुनना चाहते हैं।

आश्चर्यजनक घटना को सुनने के लिए सम्पूर्ण सभा मौन और स्थिर हो गई।

श्रेष्ठि सुधन ने कहना प्रारम्भ किया।

महाराज ! हस्तिनापुर नगर में रत्नसंचय नाम का धनवान सेठ है। रत्न के समान ही उसकी सेठानी है स्त्रीरत्न सुमंगला और गुणों का साक्षात् भंडार एक पुत्र गुणसागर।

सुमंगलकारिणी सुमंगला ने जिस समय गर्भ धारण किया तब स्वप्न में क्षीर समुद्र देखा था। इसीलिए पुत्र का नाम रखा गुणसागर।¹ गुणसागर युवा हो गया। ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ी त्यों-त्यों वह अनेक कलाओं में निपुणता प्राप्त करता गया। युवक गुणसागर रूप, गुण और कलाओं का सागर बन गया।

एक दिन राजमार्ग पर गुणसागर चला जा रहा था। आठ श्रेष्ठि कन्याओं की दृष्टि उस पर पड़ी और वे आकर्षित हो गईं। प्रेम रोग ने उन्हें धर दबाया। उन सबने निश्चय कर लिया—हमारा पति होगा तो वह युवक—गुणसुन्दर अन्यथा हम कुँवारी ही रह जायेंगी।

पुत्रियों के निर्णय का पता माता-पिता को लगा। उन्हें क्या ऐतराज था? रत्नसंचय के पुत्र के पास क्या नहीं था? रूप, गुण और धन सभी कुछ तो था और इन सबसे बढ़कर वह सदाचार सम्पदा से भी विभूषित था। किसी भी पिता को इससे अच्छा जँवाई (दामाद) और कैसा मिलेगा? पिताओं ने पुत्रियों के निर्णय से सहमति व्यक्त कर दी।

श्रेष्ठि गण अपनी-अपनी कन्याओं के सम्बन्ध के विषय में श्रेष्ठि रत्नसंचय से मिले। युवा पुत्र का विवाह तो उसे भी करना ही था। उसने तुरन्त स्वीकृति दे दी। सम्बन्ध पक्का हो गया।

1. गुणसागर पिछले भव में कनककेतु था। वहाँ से कालधर्म प्राप्त कर वह सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुआ था (देखिये दशवां भव—कुसुमायुध और कनककेतु)। वहाँ से अपना आयुष्य पूरा करके वह हस्तिनापुर के श्रेष्ठि रत्नसंचय की पत्नी सुमंगला के गर्भ में अवतरित हुआ था। उसी के पुण्य प्रताप से सेठानी ने स्वप्न में क्षीरसागर के दर्शन किये थे।

माता-पिता अपने लाड़ले के विवाह के सुख-स्वप्न देखने लगे। माता की दृष्टि में तो आठों पुत्रवधुओं की मनोहर छवि आठों पहर छाई रहती। वह तो अभी से दिवा-स्वप्न देखने लगी।

माता कल्पना-लोक में विचर रही थी और विधि का विधान कुछ और ही गुल खिला रहा था।

दिन का दूसरा पहर था। आकाश से सूर्य की प्रचण्ड ज्वालाएं अग्नि वर्षा कर रही थी। उस तपन से घबराकर मानों पवन भी कहीं जा छिपा था। वृक्ष निस्तब्ध खड़े थे। एक पत्ता भी नहीं हिल रहा था। उस भीषण गर्मी से विकल कुमार गुणसुन्दर गवाक्ष में बैठा राजमार्ग को देख रहा था।

एक दुर्बलकाय मुनि हाथ में पात्र लिए गोचरी के लिए चले जा रहे थे। न सिर पर साया, न पैर में पनही। ऊपर से सूर्य की अग्नि सिर को तपा रही थी और जमीन तलवों को जला रही थी। भूमि मानो आग का अंगारा थी। रेत, भाड़ के बालू की भाँति जल रहा था। किन्तु निस्पृह तपस्वी-शरीर मोह से विरक्त ऐसे चले आ रहे थे मानो कोई सुखद मखमली घास पर चल रहा हो। मुख पर थकावट नहीं, तेजस्विता थी। गुणसुन्दर उन्हें एकटक देखने लगा। उसके हृदय में विचार आया—मैंने यह वेश कहीं न कहीं देखा है। कहाँ? कब? यह कुछ याद न आया। उसने दिमाग पर बहुत जोर दिया। किन्तु जब स्मृति ने साथ न दिया तो उठकर चल दिया—साधुजी से ही पूछने।

शीघ्रता से उतरने के कारण यह सीढ़ियों से फिसला और गिर कर मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छा में उसको जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अपने पूर्वजन्म की उसे याद आ गई। संकेत होते ही उसके मुख

से निकला—मैंने पिछले जन्म में साधुवृत्ति स्वीकार की थी। उसी तप के फलस्वरूप मुझे स्वर्गलोक की ऋद्धि-समृद्धि और इस जन्म में यह रूप और धन की प्राप्ति हुई है। गुणसुन्दर के हृदय में वैराग्य जागृत हुआ। मिश्री का स्वाद पाकर नमक की डली कौन मुँह में डाले। जिसे आत्म-सुख का स्वाद मिल गया हो उसे तो सांसारिक सुख-भोग नमक की डली के समान कड़वे ही लगते हैं। यही दशा गुण-सुन्दर की थी। वह तुरन्त माता-पिता के पास आया और बोला—मैं साधु होना चाहता हूँ।

अवाक् रह गये माता-पिता। अचानक यह क्या हो गया पुत्र को—उनकी कुछ समझ में ही न आया। पिता ने मीठे स्वर में कहा—पुत्र। बैठो। अचानक तुम्हें क्या सूझी? क्या कोई बुरा स्वप्न देखा है।

—हाँ पिताजी! अब तक मैं दुःस्वप्न में ही खोया रहा। यह संसार दुःस्वप्न नहीं तो और क्या है? रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अनेक बुराइयों और कष्टों का सागर ही तो है यह। आज और अभी मेरी नींद खुली है। मैं जागृत हुआ हूँ। अब इस दुःखमय संसार में नहीं रह सकता।

—बेटा ! संसार दुःखमय ही नहीं है, अनेक सुख भी हैं। तुम उन्हें क्यों नहीं देखते हो?

—देखता हूँ, पिताजी! उन्हें भी देखता हूँ, किन्तु वे हैं क्या? पुण्य के फल ही तो—और पुण्य क्षीण होने पर समाप्त हो जाते हैं। फिर वहीं दुःख और जन्म-मरण का कभी समाप्त न होने वाला दुश्चक्र।

—जन्म मरण तो संसार के सभी प्राणियों के जीवन की एक अनिवार्य घटना है। वत्स! तुम अपना कर्तव्य पालन करो। युवावस्था संसार में रहकर सुख-भोग के लिये है। संयम की बात वृद्धावस्था में ही शोभा देगी। तब तुम्हें कोई नहीं रोकेगा।

—और यदि वृद्धावस्था आये ही नहीं, युवावस्था में ही मृत्यु हो जाय, तो—

पिता रत्नसंचय मौन हो गये। पुत्र की इस युक्ति का उन्हें कोई उत्तर नहीं सूझा।

माता सुमंगला ध्यानपूर्वक पिता-पुत्र के वार्तालाप को सुन रही थी। उसने अपनी सहज बुद्धि से समझ लिया कि पुत्र को युक्तियों से प्रभावित नहीं किया जा सकता। और फिर स्त्री हृदयप्रधान होती है। वह सोचने का काम भी हृदय से लेती है। नारी हृदय की भाषा कहती है और उसे ही सुनती-समझती है। वह तर्क की अपेक्षा भावना में ही अधिक बहती है। भावुक होकर माता ने कहा—बेटा! क्या तुम हमको दुख ही दोगें?

—नहीं माँ, नहीं! ऐसा तो स्वप्न में भी नहीं हो सकता।

—पुत्र! तुम्हारे लिए मैंने क्या-क्या आशायें संजोई थीं। मेरा बेटा आठ वधुओं को घर आयेगा। उन्हें देख-देखकर मैं कितना सुख पाऊँगी। तुम्हारे पुत्र-पुत्री होंगे। मैं उन्हें लाड़ लड़ाऊँगी और आनन्द प्राप्त करूँगी। तुम्हारी इस प्रव्रज्या के बवंडर ने मेरे महल को सूखे पत्तों की भाँति उड़ा लिया। मेरा दिल टूट गया वत्स!

—माँ ने अवरुद्ध कष्ट ने कहा।

माँ के प्रेम ने पुत्र के निश्चय के पाँव डगमगा दिया। उसकी

दृढ़ता बर्फ की भाँति पिघलने लगी। हृदय की भाषा ने अपना असर दिखाया। पुत्र ने विनीत स्वर में कहा—

माँ! कोई ऐसा उपाय बताओ कि तुम्हारा दिल भी न टूटे और मैं अपना आत्म-कल्याण भी कर लूँ। उसमें भी बाधा न पड़े।

—पुत्र माँ तो त्याग करने के लिये ही बनी हैं। पुत्र के कल्याण में, उसकी सुरक्षा में ही उसका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है। मैं पौत्र-पौत्रियों के सुख का त्याग कर दूँगी किन्तु जिन श्रेष्ठियों को तुम्हारे पिता ने वचन दिया है उसकी तो लाज रख लो। कुल की मर्यादा और उच्च कीर्ति का कलंकित होने से बचा लो। तुम्हारे पिता पर वचन भंग का दोष न लगे। उनका अपयश न हो—इसलिए विवाह कर लो।

गुणसुन्दर माता की बात से सहमत हुआ, बोला—

मातेश्वरी! आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है किन्तु लग्न के दूसरे दिन ही मैं प्रव्रजित हो जाऊँगा। आप उस समय मेरे मार्ग में बाधक न बनें।

—ठीक है! मैं कोई बाधा उपस्थित नहीं करूँगी—माता ने वचन दे दिया।

कुमार गुणसुन्दर कुछ समय तक सोचता रहा और बोला—

—आप तो नहीं रोकेँगी, मुझे विश्वास है। किन्तु उन कन्याओं और उनके पिताओं को भी मेरे दृढ़ निश्चय की सूचना दे दें। मेरा निर्णय अटल है। इसको जानकर भी यदि वे लग्न करने को तैयार है तो मुझे भी कोई ऐतराज नहीं है।

माता-पिता ने समझ लिया कि पुत्र का निर्णय अटल हैं। यह अवश्य ही प्रव्रजित होगा। पिता ने श्रेष्ठियों को बुलाकर स्पष्ट बता देने का निर्णय कर लिया।

श्रेष्ठि रत्नसंचय ने कन्याओं के पिताओं से कहा—

—मित्रो! आपको मैंने अति आवश्यक घटना बताने के लिये कष्ट दिया है। इसका हम लोगों के जीवन से घनिष्ठ संबंध है। मेरा पुत्र लग्न के दूसरे दिन ही प्रव्रजित हो जायेगा।

क्या? सभी श्रेष्ठियों के आश्चर्यचकित मुख से अनायास ही निकल पड़ा।

रत्नसंचय ने कहा—आप पूरी बात सुन लीजिए। इसके पश्चात् जो भी सबका निर्णय होगा वहीं किया जायेगा।

—कहिये। सभी ने उदास मन से कहा।

—यदि आप लोगों की कन्याओं के मोह में पड़कर यह दीक्षा न ले तो दूसरी बात है, अन्यथा वह प्रव्रज्या लेने को दृढ़ प्रतिज्ञ है। इस परिस्थिति में अब आप सब निर्णय करें कि लग्न होना उचित है या नहीं।

श्रेष्ठियों ने एक स्वर में कहा—यह कैसा लग्न? दूसरे दिन ही वर-महोदय रजोहरण और मुंहपत्ति—साधु वेश लेकर वन को चल देंगे तो हमारी कन्याएँ क्या घर की दीवारों से सिर टकरायेंगी।

—बात तो आपकी उचित है। रत्नसंचय ने सहमति जताई।

—बिना पति के पत्नी कैसी? उसका जीवन ही क्या? एक श्रेष्ठि ने अपने विचार प्रगट किये तो दूसरे ने बात आगे बढ़ाई—

यह तो पुत्रियों के जीवन के साथ खिलवाड़ है।

—अजी? आप खिलवाड़ कहते हैं। यह तो सरासर भाड़ में झोकना है।—चौथे ने रोष व्यक्त किया।

—हम तो धर्म संकट में पड़ गये। एक बार बात पक्की होने के बाद अब क्या करें?—पाँचवाँ विवशता प्रदर्शित करते हुए बोला।

छठवें ने निराश स्वर में कहा—भई गति साँप छूँछूदर केरी। खाता है तो मरता है और उगलता है तो अंधा होता है। यदि विवाह करते हैं तो कन्या का जीवन बरबाद हुआ जाता है और नहीं तो लोकापवाद।

सातवें ने सलाह दी—बन्धुओं! इस प्रकार निराश होने से काम कैसे चलेगा। अब तो इसका कोई उपाय ढूँढो।

(क्रमशः)

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655

English :

1. Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:
Vol - 1 (satakas 1- 2) Price : Rs. 150.00
Vol - 2 (satakas 3- 6) 150.00
Vol - 3 (satakas 7- 8) 150.00
Vol - 4 (satakas 9- 11) ISBN : 978-81-922334-0-6 150.00
2. James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates Price : Rs. 100.00
(It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)
3. P. C. Samsukha - Essence of Jainism Price : Rs. 15.00
ISBN : 978-81-922334-4-4
4. Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord, Price : Rs. 50.00
ISBN : 978-81-922334-7-5
5. Verses from Cidananda
Translated by Ganesh Lalwani Price : Rs. 15.00
6. Ganesh Lalwani - Jainthology Price : Rs. 100.00
ISBN : 978-81-922334-2-0
7. Lalwani and S. R. Banerjee-
Weber's Sacred Literature of the Jains Price : Rs. 100.00
ISBN : 978-81-922334-3-7
8. Prof. S. R. Banerjee
Jainism in Different States of India Price : Rs. 100.00
ISBN : 978-81-922334-5-1
9. Prof. S. R. Banerjee
Introducing Jainism ISBN : 978-81-922334-6-8 Price : Rs. 30.00
10. Smt. Lata Bothra- The Harmony Within Price : Rs. 100.00
11. Smt. Lata Bothra- From Vardhamana-
to Mahavira Price : Rs. 100.00
12. Smt. Lata Bothra- An Image of-
Antiquity Price : Rs. 100.00

Hindi :

1. Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) ISBN : 978-81-922334-1-3
Translated by Shrimati Rajkumari
Begani Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki
Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari
Begani Price : Rs. 20.00
3. Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated
by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 30.00
4. Ganesh Lalwani - Chandan-Murti
Translated by Shrimati Rajkumari Begani Price : Rs. 50.00
5. Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira Price : Rs. 60.00

6. Ganesh Lalwani-Barsat ki Ek Raat, Price : Rs. 45.00
7. Ganesh Lalwani -- Panchdasi. Price : Rs. 100.00
8. Rajkumari Begani-Yado ke Aine me. Price : Rs. 30.00
9. Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira
Aur Prajatantra Price : Rs. 15.00
10. Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi
Shrote, Jain Dharm Price : Rs. 24.00
11. Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana
Praveshika Price : Rs. 20.00
12. Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev
Aur Asthapad Price : Rs. 250.00
ISBN : 978-81-922334-8-2
13. Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra Price : Rs. 50.00
14. Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan Price : Rs. 50.00
15. Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal
Price : Rs. 250.00
ISBN : 978-81-922334-9-9
16. Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh Price : Rs. 50.00

Bengali :

1. Ganesh Lalwani-Atimukta, Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita Price : Rs. 20.00
3. Puran Chand Shymsukha-Bhagavan
Mahavir O Jaina Dharma. Price : Rs. 15.00
4. Prof. Satya Ranjan Banerjee
Prasnottare Jaina-Dharma Price : Rs. 20.00
5. Dr. Jagatram Bhattacharya
Das Baikalik Sutra Price : Rs. 25.00
6. Prof. Satya Ranjan Banerjee
Mahavir Kathamrita Price : Rs. 20.00
7. Sri Yudhishtir Majhi
Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti Price : Rs. 20.00

Some Other Publications :

1. Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise
Bane Mahavir Price : Rs. 15.00
2. Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me
Mahakta Jain Darshan Price : Rs. 10.00
3. Dr. Lata Bothra - Bharat Me
Jain Dharma Price : Rs. 100.00
4. Acharya Nanesh - Samata Darshan
Aur Vyavhar (Bengali) Price : Rs.
5. Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma
Aur Shasnavali (Bengali) Price : Rs. 50.00
6. K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan
Mahavira Price : Rs. 25.00

इसके अलावा जैन धर्म से सम्बन्धित अन्य तीन पत्रिकाएँ :

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्रिका	वार्षिक	500.00
ISSN 0021 - 4043	(आजीवन)	5000.00
हिन्दी मासिक पत्रिका	वार्षिक	500.00
ISSN 2277 - 7865	(आजीवन)	5000.00
बंगला मासिक पत्रिका	वार्षिक	200.00
ISSN : 0975 - 8550	(आजीवन)	2000.00